श्रीसोमनाथसंस्कृतविश्वविद्यालयग्रन्थमाला - २२

भाष्यपरम्परा ज्ञानप्रवाहश्च

(अन्ताराष्ट्रियपरिसंवादे प्रस्तुतानां निबन्धानां सङ्ग्रहः)

प्रधानसम्पादकः

प्रो. गोपबन्धु मिश्रः

सम्पादकाः

प्रो. देवेन्द्रनाथ पाण्डेयः
डॉ. दीपेश विनोद कतिरा
डॉ. जानकीशरण आचार्यः

श्रीसोमनाथसंस्कृतयुनिवर्सिटी, वेरावलम्

भाष्यपरम्परा ज्ञानप्रवाहश्च
(अन्ताराष्ट्रियपरिसंवादे प्रस्तुतानां निबन्धानां सङ्ग्रहः)
सम्पादकाः
प्रो. देवेन्द्रनाथ पाण्डेयः
डॉ. दीपेश विनोद कतिरा
डॉ. जानकीशरण आचार्यः

श्रीसोमनाथसंस्कृतविश्वविद्यालयग्रन्थमाला - २२

भाष्यपरम्परा ज्ञानप्रवाहश्च

(अन्ताराष्ट्रियपरिसंवादे प्रस्तुतानां निबन्धानां सङ्ग्रहः)

प्रधानसम्पादकः

प्रो. गोपबन्धु मिश्रः

सम्पादकाः

प्रो. देवेन्द्रनाथ पाण्डेयः

डॉ. दीपेश विनोद कतिरा

डॉ. जानकीशरण आचार्यः

श्रीसोमनाथसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वेरावलम्

प्रकाशकः

डॉ. दशरथ जादवः

कुलसचिवः

श्रीसोमनाथसंस्कृतयुनिवर्सिटी,

राजेन्द्रभुवनमार्गः, वेरावलम् – ३६२ २६६ गीर-सोमनाथजनपदम् (गुजरातम्)

दूरभाषः – 02876 – 244532, फेक्स – 244417

www.sssu.ac.in

सहायकसम्पादकः समन्वयकश्च

डॉ. कार्तिक पण्ड्या

संशोधनाधिकारी

© *Shree Somnath Sanskrit University, Veraval - 2020*

Note: The statements and views expressed by the authors of articles in this conference proceeding are their own and not necessarily of the editors. The responsibility of the facts stated, opinions expressed, or conclusions reached, is entirely that of the author of respective research articles and that Shree Somnath Sanskrit University accepts no responsibility for them.

संस्करणम् - प्रथमम्

वर्षम् - मार्च, २०२०

प्रतिकृतयः - ३५०

ISBN - 978-93-83097-43-2

मूल्यम् - ₹ 920

मुद्रकः - जालाराम ग्राफिक्स एण्ड ऑफसेट

परमहंस एपार्टमेंट के पास, होटल कावेरी के पीछे,

एस.टी. रोड, वेरावल - ३६२ २६६.

जि. गीर सोमनाथ, गुजरात (भारत)

दूरभाष : (०२८७६) २२१८६१

Shree Somnath Sanskrit University Grantha Series - 22

BHĀṢYAPARAMPARĀ JÑĀNAPRAVĀHAŚCA

(Proceeding Volume of Interanational Conference)

Cheif Editor

Prof. Gopabandhu Mishra

Editors

Prof. Devendra Nath Pandeya

Dr. Dipesh Vinod Katira

Dr. Janakisharan Acharya

Shree Somnath Sanskrit University, Veraval

Published by:

Dr. Dashrath Jadav

The Registrar

Shree Somnath Sanskrit University,

Rajendra Bhuvan Road, Veraval - 362 226.

Dist.: Gir-Somnath, Gujarat, India.

Phone: 02876-244532, Fax: 02876-244417

Website : www.sssu.ac.in

Assistant Editor & Coordinator:

Dr. Kartik Pandya

Research Officer

Shree Somnath Sanskrit University, Veraval

© Shree Somnath Sanskrit University, Veraval - 2020

Note: The statements and views expressed by the authors of articles in this conference proceeding are their own and not necessarily of the editors. The responsibility of the facts stated, opinions expressed, or conclusions reached, is entirely that of the author of respective research articles and that Shree Somnath Sanskrit University accepts no responsibility for them.

Edition	:	First
Year	:	March-2020
Copies	:	350
ISBN	:	978-93-83097-43-2
Price	:	₹ 920

Printed By: Jalaram Graphics & Offset
Near Paramhans Apartment, Behind Hotel Kaveri,
S. T. Road, Veraval-362 266
Dist. Gir Somnath, Gujarat (India)
Tel. (02876) 221861

परमपूज्यानां कार्ष्णिपीठाधीशानां महामण्डलेश्वराणां गुरुशरणानन्दस्वामिपादानाम्

आशीर्वचांसि*

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः॥

ज्ञान और ब्रह्म पर्यायवाची है। जिस प्रकार से सत्य अनादिनिधन है, ब्रह्म अनादिनिधन है, उसी तरह से ज्ञान भी अनादिनिधन है। जिस प्रकार ब्रह्म सर्वत्र परिपूर्ण है, सब कुछ ब्रह्म में ही स्थित है, ठीक इसी प्रकार ज्ञान भी परिपूर्ण है। सब कुछ उसमें स्थित है। अतः परिपूर्ण में गति की संभावना कैसे संभव है, यह विचारणीय है। लेकिन हम ज्ञानते हैं कि वह परस्पर अत्यन्त विरुद्ध धर्मों का आश्रय है। इसमें अध्ययन-अध्यापन की परम्परा से ज्ञान में प्रवाहत्व की कल्पना की जा सकती है।

वेद समस्त ज्ञान के मूल हैं और वेदों का लेखन कभी नहीं हुआ है यह हम सब विद्वान् जानते हैं। वेद ऋषियों के माध्यम से प्रकट हुए हैं। उन्होंने इसका साक्षात्कार किया और उनको शब्दराशि प्रदान की। वेदों की यह शब्द राशि केवल संकेत मात्र हैं क्योंकि ब्रह्म के समान ज्ञान भी आवाङ्मनसगोचर हैं। मन, बुद्धि और वाणी का विषय नहीं है। वह ज्ञान इन शब्दों के माध्यम से गुरु की कृपा से अन्तःकरण में प्रकट होता है। "**गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः**"। लेकिन गुरु के मौन व्याख्यान को हम समझ सके इसके लिए गुरुभक्तिपूर्वक गुरु के पास शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन की एक परम्परा बनी हुई है। इसका बहुत सुंदर विवेचन मीमांसाशास्त्र में "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" और शास्त्रदीपिका की शिक्षा पद्धति में आया है, उसको देखा जा सकता है। भाष्यपरम्परा भी इन गूढ ज्ञानों को बुद्धिस्थ बनाने के लिए है जिससे विद्यार्थी इनको समझ सके। भाष्य केवल सूत्र, वेद, उपनिषद या जिसका हमें भाष्य करना है केवल उसकी ही व्याख्या नहीं करता है, अपनी जो व्याख्या की है उसकी भी व्याख्या करता चलता है।

---

* दृश्यसन्देशस्य यथावत् लिप्यन्तरणम्

हम देखते हैं कि व्याकरण का भाष्य 'महाभाष्य' तो एक ही है लेकिन विभिन्न दर्शनों के भाष्य अलग-अलग हैं। एक ही दर्शन के आचार्यों ने अलग अलग स्वरूपों में अलग-अलग प्रकार के भाष्य प्रदान किए हैं। जब वह सत्य के द्रष्टा है, श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ है तो उनके द्वारा यह नाना प्रकार के भाष्यों का निरूपण क्यों हुआ ? उसका कारण है कि एक तो यह मन और बुद्धि का भी विषय नहीं है। तो उसको जब बताया जाता है तो वास्तव में ज्ञान का निरूपण नहीं होता है। **"अतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि"** इस प्रकार की इङ्गिती से उसको बताने की चेष्टा की जाती है।

देश, काल और परिस्थिति के अनुसार धर्म की व्याख्या बदलती जाती है। यह देश, काल, परिस्थिति और अधिकारी के भेद से भी धर्म की यह व्याख्या बदल सकती है। हम लोगों ने उपनिषद् में सुना है कि एक ही उपदेष्टा का उपदेश तीन प्रकार के अधिकारियों को तीन प्रकार से भाषित होता हैं। 'दा' का तात्पर्य कोई दान लेता है, कोई दमन लेता है और कोई दया लेता है। इस प्रकार अधिकारी के भेद से भी बुद्धिस्थ यथार्थ भिन्न होता चला जाता है। यह अन्त:करण का वैभिन्य पूर्व संस्कारों के कारण है। इसलिए स्वाभाविक है कि किसी भी दो व्यक्ति की बुद्धि किसी एक विषय में समान नहीं होती है। इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति के लिए धर्म अलग-अलग प्रकार से व्याख्यायित होता है। इसीलिए धर्मराज युधिष्ठिर ने कहा **"धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः"**। जो श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु अपने शिष्य के लिए मार्ग बताएं, जिस प्रकार की व्याख्या प्रदान करें, वही व्याख्या उचित है। उसी को विद्यार्थियों को स्वीकार करना चाहिए। एक बार उस विषय को उस तरह स्वीकार करने के अनन्तर जब अधिकारी हो जाएगा, जब शब्द से ऊपर चला जाएगा, तब उसको यथार्थ का भान हो जाएगा। इसीलिए भाष्य की विभिन्नता अथवा अन्य टीका इत्यादि की विभिन्नता बुद्धि वैशद्य अथवा अधिकारी के अनुरूप होती है।

आचार्यों का तो एक मात्र लक्ष्य है दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्तिपूर्वक परमानन्द की प्राप्ति और परमानन्द की प्राप्ति "सत्यं ज्ञानं अनन्तम् आनन्दम् ब्रह्म" उसी की प्राप्ति के लिए ही है। जैसा-जैसा अधिकारी है उसके अनुसार व्याख्या होती है। इसीलिए पुन: कहा जा रहा है कि भाष्य भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ते हैं, वह शब्द का एक विशिष्ट रूप है लेकिन लक्ष्य तो सबका एक ही है – **"सत्यं ज्ञानं अनन्तम् आनन्दम् ब्रह्म"**।

श्री सोमनाथ सोमनाथ संस्कृत विश्वविद्यालय में यह एक दिव्य आयोजन हो रहा है, हम इसकी बड़ी स्तुति करते हैं। विश्वविद्यालय के कुलपति आदरणीय प्रो. गोपबन्धु मिश्र जी ने हमको वहाँ उपस्थित होने के लिए आदेश दिया और हमने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक उनका आदेश स्वीकार

किया था। हमको वहाँ अवश्य आना था। इन दिनों विभिन्न सेवाओं के कारण कुछ अधिक भागदौड़ पड़ गई इसलिए डॉक्टरों में हमको बहुत लम्बी कार की यात्रा करने से मना कर दिया। आपके विश्वविद्यालय में आने के लिए कई घंटे की कार की यात्रा के बिना पहुंचा नहीं जा सकता तो हमारे आश्रम के अन्त:वासियों और चिकित्सकों ने मना कर दिया कि महाराज आप यह कष्ट मत करिए। आपको बारह तारीख के बाद में पुन: आगे कहीं जाना है। उन लोगों ने मेरे लिए विशेष विमान की भी व्यवस्था की थी। हेलीकॉप्टर से संभव नहीं हो रहा था तो विशेष विमान की व्यवस्था की गई। केशोद या दीव में उतर सकते थे, लेकिन दोनों ही जगह वायुपत्तन उस समय तक नहीं खुलते है जिस समय तक उतर कर हमें आप लोगों की सेवा में प्रस्तुत होना था। इसका मुझे बहुत खेद है। प्राय: जब मैं वचन देता हूँ तो मेरे वचन पूरे होते हैं। मैं अत्यन्त लज्जापूर्वक आप सबसे क्षमा याचना करता हूँ और विशेष रूप से आदरणीय मिश्रजी जिन्होंने अत्यन्त प्रेम और स्नेह से हमें बुलाया था और भगवान् सोमनाथ के दर्शन और आप सभी विद्वानों के दर्शन का सौभाग्य मिलना था, लेकिन अदृष्ट के बिना कुछ प्राप्त नहीं होता है। मैंने वास्तव में पूरा प्रयास किया, परन्तु वहाँ आना शक्य नहीं हुआ, हमको आप क्षमा करेंगे।

यह हमारी अनुभूति है कि ज्ञान बिना गुरु शुश्रूषा के प्राप्त नहीं होता है। जब तक गुरु शुश्रूषा नहीं करेंगे तब तक ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है। पढ़कर भाषा आ सकती है लेकिन ज्ञान गुरु की सेवा के बिना कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता है। गुरु की सेवा का भी अधिकार होता है और अधिकारिता की प्राप्ति है – "**आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः**"। अत: यदि संस्कृत के विद्यार्थी आचार-विचार से विरहित हैं तो भले वह षष्ठी-प्रथमा का अर्थ लगा ले, लेकिन ज्ञान की प्राप्ति तो नहीं होगी। उसके लिए जो "**स्वाध्यायोऽध्येतव्यः**" में अथवा शास्त्रदीपिका आदि ग्रन्थों में अध्ययन की जो विधि बताई गई है, उसका अनुसरण करना चाहिए।

हमें आशा है कि सभी विद्याओं के आदि आचार्य भगवान् सोमनाथ के अनुग्रह से यह विश्वविद्यालय उन्नति करेगा। बहुत अधिक भवन बन जाने से विश्वविद्यालय की उन्नति हम नहीं मानते हैं। विश्वविद्यालयो में गुरु-शिष्य परम्परापूर्वक ज्ञान का अध्यापन होना चाहिये। वहाँ भाषा भी पढ़ाई जाए, यह अच्छा है लेकिन संस्कृत विश्वविद्यालय अगर भगवान् सोमनाथ के नाम से बना है, यह गुर्जर प्रदेश की नाक है, तो हम चाहेंगे कि यहाँ से अद्‌भुत विद्वान् निकले और न केवल आत्मकल्याण करें बल्कि अपने विश्वविद्यालय, परिवार, प्रान्त और विश्व का भी कल्याण करने की उनकी अभिलाषा हो। हम इस आयोजन के उद्घाटन सत्र का दूर से बैठकर ही अपना भाव समर्पित कर रहे हैं। यदि आपके सामने रहकर बोलता तो मुझसे भगवान् कुछ और निकलवाता। अत: एक बार फिर से क्षमायाचना करता हूँ कि मैं शरीर से वहाँ उपस्थित नहीं हूँ

लेकिन हमारा मन तो आपके पास ही है। इस संगोष्ठी आने वाले विद्वान् कुछ नए-नए सुझाव देकर जाएं और अध्ययन-अध्यापन में किस प्रकार से अभिवृद्धि हो, किस प्रकार से इसकी उन्नति हो इस विषय में आप विद्वान् विचारणा करेंगे। पुन: एक बात हम अवश्य कहना चाहेंगे त्रिकाल सन्ध्या इत्यादि के बिना, अन्त:करण की पवित्रता के बिना, ब्रह्मचर्य के साधन के बिना यथार्थ ज्ञान की पात्रता नहीं आती है। गुरु कितना भी अधिकारी हो किन्तु यदि कोई पात्र नहीं है तो उसमें कुछ भी प्रदान नहीं किया जा सकता है। हम चाहेंगे कि संस्कृत विश्वविद्यालय के विद्यार्थी अन्य विश्वविद्यालयों से अतिरिक्त अपना एक स्वरूप रखें। जब किसी समय हम लोग अपना पठन-पाठन करते थे तो उस समय विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों और आचार्यों का जो स्वरूप था, वह आज भी स्मरण है। हम चाहेंगे कि गुर्जर प्रदेश में यह विश्वविद्यालय स्थापित हुआ है, वह उन्हीं परम्पराओं का अनुसरण करें। हम विश्वविद्यालय की दिनों-दिन उन्नति के लिए आचार्यों को प्रणाम करते हुए, विद्यार्थियों के लिए आशीर्वचन कहते हुए और सोमनाथ जी के चरणों में वंदन करते हुए अपनी वाणी को विराम देते हैं। आपका परम कल्याण हो। जय श्री कृष्ण।

शुभाशंसनम्

भाष्यपरम्परा ज्ञानप्रवाहश्च इति शीर्षकेण ऐषमः श्रीसोमनाथसंस्कृतयुनिवर्सिटीपक्षतः ११-१३ फरबरी, २०२० दिनाङ्केषु यः त्रैयह्निकः अन्ताराष्ट्रियपरिसंवादो विश्वविद्यालयपरिसरे समायोजितः आसीत्, तत्रोपस्थापितानि शोधपत्राणि संकलय्य सम्प्रति तेनैव शीर्षकेण पुस्तकमिदं प्रकाश्यत इति महानयं प्रमोदावसरः।

भागीरथी-जाह्नवी-त्रिपथगेति नानाविधनामभिः पुरस्कृता पूततोया गङ्गानदी हिमालयस्य गङ्गोत्र्याः उद्भूता गङ्गासागरं यावत् दीर्घं पन्थानम् अतिक्राम्यति। नामबाहुल्ये सत्यपि यत् गङ्गेति नाम सकलजनमनःपवित्रकारित्वं साधयति तत्तस्याः प्रवाहनित्यतामपि सुतरामभिव्यनक्ति। गङ्गेतिनामसंकीर्तनेनास्माकं चेतसि यत् पावित्र्यं परिस्फुरति तत्तस्याः ऋषिकेश-हरिद्वार-वाराणसी-त्यादिस्थानविशेषस्य जलविशेषस्य भावमादाय न, अपि तु नित्यं सृष्टेः प्रारम्भकालतो न केवलं सगरवंशजानाम् उद्धाराय अपि तु कोटिकोटिप्राणिगताखिलकल्मषविध्वंसनाय यत् सा प्रभवति तादृशी भावना जागर्ति। तद्वद् भारतीयमनीषायाः नित्यप्रवाहशीलानां ज्ञानोत्सानां विविधनामरूपाण्यादाय सहस्रसहस्रवर्षेभ्यो या धारा निःस्यन्दमानाः सन्ति ता आत्मनः प्रवाहनित्यतां स्वयमेव द्योतयन्ति। कालिकधर्मप्रभावात् नानादिग्देशावच्छिन्नताकारणेनापि तासु धारासु क्वचित् क्षीणता, क्वचित् इतराऽव्यावर्तकता, उत इतरव्यावर्तनवृत्त्येकपरायणता, नित्यनूतनप्रामाण्यस्वीकार्यता उत चिरपुरातनतर्कैकप्राणता इत्यादयः वृत्तयः सुतरां परिलक्ष्यन्ते। एतस्मिन् ज्ञानप्रवाहे वेदादिशास्त्राणां मौलिकं यद्रूपं तदुत्सरूपेण विद्यमानम् अस्ति, तस्यैव परिबृंहणक्रमम् आसादयितुं सायणोव्वटमहीधरादीनां तथा च महर्षिपतञ्जलि-शङ्कराचार्यादीनां तथा च साम्प्रतिके युगे दयानन्दारविन्द-स्वामिनारायणसम्प्रदायाचार्याणां च महान् यत्नः अतीव महत्त्वम् आधत्ते। तथैव सांख्य-न्याय-मीमांसादिशास्त्राणां विविधा भाष्यकाराः किं च काव्य-नाट्य-योगतन्त्रादीनामनेकविधाः टीकाकाराः तदेव तत्तच्छास्त्रगतं वैशिष्ट्यं पुरस्कुर्वन्तः परिलक्ष्यन्ते।

शास्त्रीयव्याख्याप्रसङ्गेषु विविधाः तर्काः प्रसरन्ति। सर्वोऽपि विषयः स्वपुष्टये प्रामाण्यमाश्रयते। किन्तु विश्वासभूमिः तर्कबीजम् आत्मलीनीकरोति। अतः प्राचीनकालतः ऋषिभिः आत्मसाक्षात्कारमुखेन यत् किमपि अभिहितवन्तः तत् सर्वं प्रामाणिकमिति मन्वाना वयं तेषां कथनमेव प्रमाणं मन्यामहे। उत्तरकाले तदेव शब्दप्रमाणाश्रितं तथ्यं पोषयितुं शास्त्राणि प्रावर्त्तन्त। अर्थात् आत्मसाक्षात्कारद्वारा यत् किमपि साक्षादनुभूतं तैः तदेव मूलं सूत्रमिति मत्वा तस्य भाष्याणि प्रवर्तितानि। वेदाः आनुपूर्वीमुखेन स्वीकृताः स्वतःप्रमाणा अभिमताः। तत्र कथितानि वचनानि ऋषिभिः स्वयं साक्षात्कृतानीति अतर्क्याः

शास्त्रतत्त्वावबोधनाय टीकाग्रन्थानाम् अवदानम् (व्याकरणशास्त्रावलोके)

प्रो. विनोद कुमार झा

टीकाया व्युत्पत्तिः

संस्कृतभाषायाम् उच्यते- **टीका गुरूणां गुरुः**। वस्तुतः पङ्क्तिरियं सर्वतोभावेन सार्थक्यमावहति। टीकाग्रन्थैरेव वयं कस्यापि ग्रन्थस्य महत्त्वं जानीमः, विषय-वस्तुनोर्गाम्भीर्यं वैविध्यञ्च जानीमः। यतोहि टीका-शब्दस्य वाचस्पत्यनुसारं व्युत्पत्तिर्विद्यते- टीक्यते=गम्यते ग्रन्थार्थोऽनयेति टीका। अत्र टीका-शब्दे करणे घञ्[१] घञर्थे क-प्रत्ययो[२] वा। कलिकालसर्वज्ञो हेमचन्द्राचार्यः कथयति- टीका निरन्तरव्याख्या। अभिधानचिन्तामणिनाममालाया वृत्तिकारः श्रीदेवसागरगणिवर्यो **व्युत्पत्तिरत्नाकरः** इति नाम्न्यां वृत्तौ लिखति- टीकयति=प्रापयति अर्थम् इति टीका। गत्यर्थकात् टीकृ-धातोः कर्त्रर्थे पचाद्यच् अजादित्वात् टाप् च। केचन कथयन्ति- **सुगमानां दुर्गमानां चार्थानां निरन्तरमन्तराभावेन व्याख्या यस्यां सा टीका**। अमरकोशस्य व्याख्याकारो महेश्वरो वदति- **टीका विषमपदव्याख्या। विषमपदव्याख्यारूपे ग्रन्थभेदे** इति वाचस्पत्यं विवृणोति। **विस्तारवचने** इति सायणाचार्यः। काव्यमीमांसाकारो राजशेखरो कथयति- यथासम्भवमर्थस्य टीकनं टीका। इत्थं टीका ग्रन्थविस्तारकारिणी भवति।

व्याख्याया आश्रयणम्

शब्दानाम् अनेकार्थत्वात्, समासकारणात् सन्धिकारणाद् वा यत्र कुत्रापि शास्त्रदृष्ट्या, मूलार्थदृष्ट्या अर्थस्य सङ्गतिदृष्ट्या वा अर्थे वैपरीत्यमागच्छति तत्र **व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्**[३] इति परिभाषानुरोधेन व्याख्यामाश्रित्य निर्णयो विधातव्यः।

---

[१] पाणिनीय-अष्टाध्यायी-सूत्रपाठः- ३/३/१९

[२] लघुसिद्धान्तकौमुद्याम् "ॠदोरप्" (३/३/५७) सूत्रोपरि

[३] परिभाषेन्दुशेखरे प्रथमा परिभाषा

व्याख्यापि अस्मदीया न ग्राह्या अपितु आप्तानाम् आप्तवचनबोधिका च ग्राह्या। विषयेऽस्मिन् अस्माकं बुद्धिरपि मण्डनात्मिका भवेत् न तु खण्डनात्मिका। उक्तञ्चापि- **स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया। शिष्टपरिज्ञानार्था च अष्टाध्यायी।**

टीकाया महत्त्वम्

यथा मया पूर्वम् उक्तं कस्यापि ग्रन्थस्य सर्वम् इतिवृत्तं टीकाग्रन्था एव प्रतिपादयन्ति। यस्य ग्रन्थस्य यावन्तः टीकाग्रन्था भवन्ति तस्य ग्रन्थस्य तावती महत्ता भवति, तस्मिन् ग्रन्थे तावद् गूढार्थत्वं भवति। उदाहरणरूपेण महाकवेः कालिदासस्य **अभिज्ञानशाकुन्तलम्** आचार्य-मम्मट्टस्य **काव्यप्रकाशः** प्रभृतयो ग्रन्थाः स्वीकर्तुं शक्यन्ते। अत्र नैके टीकाग्रन्था उपलभ्यन्ते। पाणिनिव्याकरणविषये महर्षिपाणिनेरष्टाध्यायीम् अतिरिच्य व्याकरणशास्त्रस्य प्रायः सर्वेऽपि ग्रन्थाः टीकाग्रन्थाः टीकाग्रन्थसदृशाश्च सन्ति। येषां माध्यमेन अष्टाध्याय्या महत्त्वं जानन् विलियम-महोदयोऽष्टाध्यायी-विषये कथयति- **संस्कृत का अष्टाध्यायी व्याकरण मानव मस्तिष्क की प्रतिभा का आश्चर्यतम भाग है, जो कि मानव मस्तिष्क के सामने आया।**

अष्टाध्याय्या गूढार्थत्वम्

अष्टाध्याय्या गूढार्थत्वकारणादेव अष्टाध्यायीमाश्रित्य आचार्यकात्यायनेन वार्तिकानि रचितानि। एतत्सर्वं स्वीकृत्य भगवता पतञ्जलिना महाभाष्यं रचितम्। महाभाष्यं नामकं केवलं एकमेव भाष्यं विद्यते, अन्यत् सर्वं भाष्यं भाष्यमात्रमस्ति। महाभाष्ये सर्वं पाणिनिव्याकरणं विस्तरेण प्रस्फुटितं विद्यते। महाभाष्ये यत् किमपि व्याख्यातं विद्यते तत्सर्वं सूत्रेषु समाहितमस्ति। अत एव महाभाष्यकारः पतञ्जलिर्व्याकरणस्य परिभाषाविषये महाभाष्ये प्रथमं लिखति- **अथ व्याकरणम् इत्यस्य शब्दस्य कः पदार्थः? सूत्रम्।** यदि सूत्रमेव व्याकरणं विद्यते इति स्वीक्रियते चेन्न केवलं **व्याकरणस्य सूत्रम्**[४] इत्यत्र षष्ठ्यर्थस्य अनुपपत्तिर्विद्यत अपितु **शब्दानाञ्च अप्रतिपत्तिः प्राप्नोति। व्याकरणात् शब्दान् प्रतिपद्यामहे। न हि सूत्रत एव शब्दान् प्रतिपद्यन्ते। किं तर्हि? व्याख्यानतश्च। ननु च तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवति। न केवलं चर्चापदानि व्याख्यानम्- वृद्धिः, आत्, ऐच् इति। किं तर्हि? उदाहरणं-प्रत्युदाहरणं-वाक्याध्याहारः- इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवति।**[५] अर्थात् व्याकरणस्य अर्थो यदि सूत्रं क्रियते तर्हि शब्दानां ज्ञानं न सम्भवति, कारणं वयं व्याकरणात् शब्दान् जानीमः। इदानीं व्याकरणस्य अर्थः सूत्रं विद्यते। न

[४] चारुदेव शास्त्रिणः हिन्दी-टीकासहिते व्याकरणमहाभाष्ये पृ. सं.- ४०

[५] तत्रैव, पृ. सं.- ४१

वयं सूत्रात् शब्दान् जानीमः। वयन्तु व्याख्यानात् शब्दान् जानीमः। यदि उच्यते विगृहीतम् अर्थात् पृथक्-पृथक्-पदेन विभाजितं सूत्रमेव व्याख्यानं भवति, न वक्तव्यम्, **वृद्धिरादैच्**[६] इति सूत्रस्य वृद्धिः, आत्, ऐच् इत्येवम्प्रकारेण विभाजितानां पदानां व्याख्यानाभावात्। व्याख्यानन्तु उदाहरणस्य, प्रत्युदाहरणस्य वाक्याध्याहारस्य च समुदायो भवति। सूत्रे एतत् सर्वं न भवति, अतः शब्दज्ञानाय व्याकरणस्य अर्थः सूत्रं कर्तुं न शक्यते। अस्य प्रश्नस्य समाधानं कुर्वता भाष्यकारेण पुनरुच्यते- **अविजानत एतदेवं भवति। सूत्रत एव हि शब्दान् प्रतिपद्यन्ते। आतश्च सूत्रत एव। यो हि उत्सूत्रं कथयेन्नादो गृह्येत।**[७] अर्थात् यो न जानाति। य अज्ञानी विद्यते। तस्य कृते सूत्रातिरिक्तं व्याख्यानं विद्यते। वस्तुतः सूत्र एव व्याख्यानस्य सर्वं तत्त्वं निगूढं भवति। वयं सूत्रादेव शब्दान् जानीमः। अत एव सूत्रम् अतिक्रम्य यदि कोऽपि वदति न स्वीक्रियते। व्याकरणमहाभाष्ये यत्र कुत्रापि सूत्रादीनां खण्डनं विद्यते तत्सर्वं दृष्टफलदृष्ट्या विद्यते न तु अदृष्टफलदृष्ट्या। अत एव उच्यते- **सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदत्र पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्।**[८]

एतदतिरिक्तं व्याकरणस्य इदानीं भागद्वयं विद्यते- प्राचीनव्याकरणं नव्यव्याकरणञ्च। अष्टाध्यायीक्रमानुसारिणी व्याख्या प्राचीनव्याकरणं तथा च प्रक्रियानुसारिणी व्याख्या नव्यव्याकरणम्। अष्टाध्यायीक्रमानुसारिणिव्याख्यायाम् उपजीव्यग्रन्थो विद्यते महर्षि-पाणिनेरष्टाध्यायीग्रन्थः। प्रक्रियानुसारिणिव्याख्यायामपि यद्यपि उपजीव्यग्रन्थो विद्यते महर्षि-पाणिनेरष्टाध्यायीग्रन्थः तथापि शिक्षणस्य सुविधाया विचारेण भाषाया व्यावहारिकताया विचारेण च तस्य प्रकरणेषु वर्गीकरणं विधाय प्रक्रियादृष्ट्या सूत्रक्रम अपेक्षितं परिवर्तनं विहितम्। प्राचीनव्याकरणग्रन्थेषु प्रमुखो वृत्तिग्रन्थो विद्यते- काशिका। ग्रन्थस्यास्य काश्यां लेखनं सञ्जातं तस्मात् कारणाद् अस्य नामकरणं काशिकेति। अस्य ग्रन्थस्य लेखकौ द्वौ वर्तेते- जयादित्यो वामनश्च। काशिकाया आरम्भतः पञ्चाध्यायानां लेखनम् आचार्य-जयादित्येन तथा अध्यायत्रयस्य लेखनम् आचार्य-वामनेन अनुष्ठितम्। काशिकायाः प्रथमं वैशिष्ट्यमिदं विद्यते यदत्र सर्वेषां वार्तिकानां सम्पूर्णं स्वरूपम् उपलभ्यते तथा द्वितीयं वैशिष्ट्यमिदं विद्यते यदपेक्षितो गणपाठः सूत्रस्य वृत्तावेव उपलभ्यते। अत्र ग्रन्थे नैकेषां ग्रन्थानाम् उल्लेखो विद्यते य अधुना अप्राप्याः सन्ति। अनेनेदं विदितं भवति यत् तेषां ग्रन्थानाम् अध्ययनाऽध्यापनं काशिकाकारकाले भवति स्म। काशिकाया अध्ययनेन पूर्ववैयाकरणानां तेषां ग्रन्थानानाञ्च ज्ञानं भवति। काशिकाग्रन्थस्य मूलमुद्देश्यं विद्यते पाणिनिप्रक्रियायाः सिद्धिः। काशिकामाधारीकृत्य जिनेन्द्रबुद्धिमहोदयेन 'काशिकाविवरण-

[६] पाणिनीय-अष्टाध्यायी-सूत्रपाठः- १/१/१

[७] चारुदेव शास्त्रिणः हिन्दी-टीकासहिते व्याकरणमहाभाष्ये पृ. सं.- ४४

[८] आचार्य विश्वनाथमिश्रस्य सुबोधिनीहिन्दीव्याख्योपेते लघुशब्देन्दुशेखरे पृ. सं.- ११

पञ्जिका' इति टीकाग्रन्थो लिखितः। यः टीकाग्रन्थः 'न्यास' इति नाम्ना अधिकः प्रसिद्धो विद्यते। द्वितीया व्याख्या विद्यते आचार्य-हरदत्तस्य 'पदमञ्जरी'। महर्षि-पाणिनेर्व्याकरणमहाभाष्यम् अष्टाध्यायीक्रमानुसारिण्येव विद्यते। प्रक्रियानुसारिणीं व्याख्यामाश्रित्य प्रकरणग्रन्था लिखिताः।

प्रकरणग्रन्थेषु आचार्य-धर्मकीर्तेः 'रूपावतारः' इति आदिमो ग्रन्थोऽस्ति। अस्य ग्रन्थस्य नाम्नैव ज्ञातं भवति यदत्र रूपसिद्धेः प्रधानताऽस्ति। अनन्तरं विमल-सरस्वतीमहोदयस्य 'रूपमाला' विद्यते। रूपमालायाः शैली सिद्धान्तकौमुदीसदृशी विद्यते। प्रकरणानां क्रमोऽपि सिद्धान्तकौमुदी इव वर्तते। तदनन्तरम् अत्र प्रक्रियाक्रमे रामचन्द्राचार्यस्य 'प्रक्रियाकौमुदी' प्रमुखग्रन्थोऽस्ति। अस्य ग्रन्थस्य प्रमुखम् उद्देश्यं प्रक्रियाज्ञानं विद्यते। अत्र ग्रन्थे सुबोधशैल्यां विषयप्रस्तुतिर्वर्तते। अत्रापि प्रकरणानां क्रमः सिद्धान्तकौमुदी इव वर्तते। प्रक्रियाकौमुद्यां वैदिक-प्रक्रियाया अभावो दृश्यते। आचार्य-धर्मकीर्तेः रूपावतारात् तथा च विशेषरूपेण रामचन्द्राचार्यस्य प्रक्रियाकौमुद्याः प्रेरितः सन् श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितो वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदीं रचितवान्। वर्तमानकाले प्रक्रियापद्धतेर्धुरिं वहन् ग्रन्थो वर्तते- वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदी। सिद्धान्तकौमुद्याः संस्कृतटीकासु श्रीमद्वासुदेवदीक्षित-महोदयस्य **बालमनोरमा** टीका तथा श्रीमज्ज्ञानेन्द्र- सरस्वतीमहोदयस्य **तत्त्वबोधिनी** टीका मुख्ये वर्तेते। हिन्दीटीकासु श्रीगोपालदत्त-पाण्डेयस्य **दीपिका** टीका श्रीगोविन्दाचार्यस्य **श्रीधरमुखोल्लासिनी** टीका मुख्या वर्तते। यत्र प्रत्येकं फक्किकायाः सुस्पष्टा व्याख्या, प्रत्येकम् उदाहरणस्य सम्पूर्णा सिद्धिः, प्रत्येकस्मिन् प्रत्युदाहरणे सूत्रस्याऽप्रवृतेः सुस्पष्टं कारणम् उल्लिखितं विद्यते। सिद्धान्तकौमुदीतः सूत्राणि गृहीत्वा श्रीमद्वरदराजाचार्येण निर्मिताया लघुसिद्धान्तकौमुद्या उपरि श्रीभीमसेनशास्त्रिण हिन्दीभाषायां लिखिता **भैमी-व्याख्या** अद्वितीया विद्यते। मध्यसिद्धान्तकौमुद्योपरि कुलपतिचरस्य प्रो. अर्कनाथ चौधरीमहोदयस्य **मध्यमनोरमापूरणी** टीका अत्यन्तं सुस्पष्टा वर्तते। एते तु ते टीकाग्रन्थाः सन्ति, येषां नामानि स्मर्यन्ते। इतोऽप्यधिका अनेके टीकाग्रन्थाः सन्ति। यदि उपर्युक्तेषु ग्रन्थेषु विभिन्नाः टीकाग्रन्था न स्युः तर्हि तेषां मूलग्रन्थानाम् आशयं ज्ञातुं महान् क्लेशः स्याद् अध्ययनाऽध्यापनञ्च कठिनं सञ्जायेत। गुरुभिः पाठितं सर्वं सदैव मस्तिष्के न तिष्ठति। यदि तिष्ठति तर्हि क्रमे कालक्रमेण व्यतिक्रमो जायते। पुनश्च गुरवोऽपि टीकामाश्रित्यैव अध्यापयन्ति। ग्रन्थानां ग्रन्थिभेदे सति कीदृशी प्रसन्नता जायते तथा अज्ञाने कीदृशः क्लेशो भवति, एतत्सर्वं शिक्षणरताः संस्कृतज्ञा एव जानन्ति। एतदतिरिक्तं लेखनकाले लेखकाः सावधाना भवन्ति। कारणं लिखितं प्रमाणं भवति। लिखितम् अग्रे गच्छति। लिखितस्य अपलापो भवितुं न शक्नोति। अतः लेखनं विचारविमर्शपूर्वकं भवति।

एतदतिरिक्तं वैयाकरणानां सिद्धान्तपक्षमाश्रित्य लिखिता ग्रन्थाः सन्ति- व्याकरणमहाभाष्यम्, परिभाषेन्दुशेखरः, शब्दरत्नसहिता प्रौढमनोरमा, लघुशब्देन्दुशेखरः, परमलघुमञ्जूषा,

वैयाकरणभूषणसारश्चेत्यादयः। एते सर्वेऽपि ग्रन्थाः पाठ्यक्रमे पठ्यन्ते पाठ्यन्ते च। एते सर्वेऽपि ग्रन्थाः टीकाग्रन्थाः सन्ति तथा च अष्टाध्यायीग्रन्थं व्याकरणमहाभाष्यञ्च आधारीकृत्य लिखिताः सन्ति। एतेषु ग्रन्थेषु परमतखण्डनपूर्वकं वैयाकरणानां सिद्धान्ताः पारस्परिको मतभेदश्च प्रदर्शिताः सन्ति। परस्परं मतभेदरूपेण प्रदर्शितेषु मतभेदेषु केचन मतभेदाः प्रस्तूयन्तेऽत्र उदाहरणरूपेण।

सर्वप्रथमो मतभेदो विद्यते यच्चतुर्दशमाहेश्वरसूत्राणि, माहेश्वरसूत्राणि सन्ति अथवा पाणिनिसूत्राणि। लघुसिद्धान्तकौमुद्यादिग्रन्थेषु इमानि माहेश्वरसूत्ररूपेण प्रसिद्धानि सन्ति तथा च लघुशब्देन्दुशेखरस्य संज्ञाप्रकरणे बहुभिः प्रमाणैर् माहेश्वरसूत्राणि सिद्धानि सन्ति। तत्र शेखरकृता पाणिनि-शिष्यप्रणीतायाः पाणिनिशिक्षायाः प्रमाणमप्युद्धृतम्।

येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः॥[९]

केचित्तु एतस्याः शिक्षायाः पाणिनिसम्मतत्वे प्रमाणाभावरिति वर्णसमाम्नायस्यापि कर्ता पाणिनिरेव अस्य महेश्वरकर्तृकत्वं भाष्ये क्वापि नोपन्यस्तमिति कथयन्ति। वर्णसमाम्नायस्य महेश्वरकर्तृकत्वविषये प्रदत्तप्रमाणे **'एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते, यत्तुल्यजातीयां तुल्यजातीयेषूपदिशति अचोऽक्षु हलो हल्षु'**[१०] इत्यत्र आचार्यपदेन अनादिपुरुषस्य अर्थात् भगवतो महेश्वरस्य ग्रहणे तैरुच्यते- अनादिपुरुषस्य भगवतो महेश्वरस्य **शैली** न भवति **शैली-**शब्दोऽधुनिकः शब्दो विद्यते। "**अकारस्य विवृतोपदेश आकारग्रहणार्थः**" अस्य वर्तिकस्य व्याख्यानकाले 'उपदिश्यमानस्य विवृतस्य वार्तिकेऽत्र प्रयोजनम् अन्वाख्यायते अथवा उपदिश्यमानस्य संवृतस्य विवृतोपदेशः क्रियते' इत्याशङ्कायाम् उत्तरयति भाष्यकारः पतञ्जलिर्यदत्र विवृतस्योपदिश्यमानस्य अत्र प्रयोजनं प्रोच्यते, "**अ अ**"[११] इत्यनेन अन्तिमेन अष्टाध्यायीस्थसूत्रेण विवृताऽकारस्य संवृतविधानात्। अन्यथा वर्णसमाम्नायस्थाकारस्य संवृतत्वे सति तस्य सूत्रेण संवृतत्वविधानं व्यर्थं भवति। संवृतत्वविधानं क्रियते, तस्मादेतद् ज्ञायते यत् विवृतोपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायते। अत्र ध्यानं देयम् "**अ अ**" इति सूत्रेण विवृताऽकारस्य स्थाने संवृतो विधीयते। सूत्रस्यास्य निर्माता महर्षिः पाणिनिर्वर्तते। य आदित आरभ्य अन्तपर्यन्तं सर्वं करोति, स एव अन्तिमेऽपि जानाति यद् मया आरम्भे किम् अनुष्ठितम्। अन्तिमेन सूत्रेण महर्षिपाणिनेः

[९] पाणिनीय-शिक्षा- ५७

[१०] आचार्य-विश्वनाथशास्त्रिणः हिन्दीटीकोपेते लघुशब्देन्दुशेखरे, पृष्ठसंख्या-२५

[११] पाणिनीय-अष्टाध्यायी-सूत्रपाठः- ८/४/६७

संवृतविधानमिदं द्योतयति यद् महर्षिः पाणिनिर्जानाति यत् "**अइउण्**"[१२] सूत्रस्थोऽकारो विवृतत्वेन उपदिष्टो विद्यते। एवम्प्रकारेण विवृताऽकारस्य स्थाने संवृतविधानकर्तुः पाणिनेः सत्त्वेन विवृताऽकारस्य उपदेष्टा महर्षिः पाणिनिरेव सुनिश्चितो भवति। अनेनेदं सिद्धं भवति यच्चतुर्दशसूत्राणामपि उपदेष्टा महर्षिः पाणिनिरेवाऽस्ति।

अन्योन्याश्रयदोषपरिहारविषये मतभेदो दृश्यते, यथा- चतुर्दशसूत्रेषु णकाराद्यन्तवर्णानाम् '**एषामन्त्या इतः**' इति वाक्येन इत्संज्ञा प्रतिज्ञाता। सा च इत्संज्ञा णकाराद्यन्तवर्णानां "**हलन्त्यम्**"[१३] इति सूत्रेण वक्तव्या। "**हलन्त्यम्**" इति सूत्रस्य प्रवृत्तिर् हल्पदार्थज्ञानानन्तरमेव सम्भवति। हल्पदार्थज्ञानं, चतुर्दशे माहेश्वरसूत्रे "**हल्**" इत्यस्मिन् लकारस्य इत्संज्ञायां सत्यां "**आदिरन्त्येन सहेता**"[१४] इति सूत्रेण '**हल्**' प्रत्याहारनिर्माणानन्तरं भवितुमर्हति। "**आदिरन्त्येन सहेता**" सूत्रेण '**हल्**' प्रत्याहारनिर्माणं "**हल्**" इत्यस्मिन् माहेश्वरसूत्रे लकारस्य "**हलन्त्यम्**" इति सूत्रेण इत्संज्ञायां सत्यां भवितुमर्हति। एवम्प्रकारेण "**हलन्त्यम्**" सूत्रस्य ज्ञानं "**आदिरन्त्येन सहेता**" सूत्राधीनमस्ति तथा च "**आदिरन्त्येन सहेता**" सूत्रस्य ज्ञानं "**हलन्त्यम्**" सूत्राधीनमस्ति, तस्मादस्ति **स्वज्ञप्त्य**[१५]**धीनज्ञप्तिकत्वम् अन्योन्याश्रयत्वम्** इत्यनुरोधेन परस्परम् अन्योन्याश्रयः।

अत्र लघुशब्देन्दुशेखरः "**न विभक्तौ तुस्माः**"[१६] इत्यादेः सार्थक्याय "**हलन्त्यम्**" इति सूत्रस्य **उपदेशेऽन्त्यं हल् इत् स्यात्** इत्यर्थस्य आवश्यकत्वेन "**हलन्त्यम्**", "**आदिरन्त्येन सहेता**" इत्यनयोरुपर्युक्तरीत्या परस्परापेक्षत्वेन अन्योन्याश्रयात्, लकारे इत्संज्ञाम् अबोधयित्वा हलाम् इत्संज्ञाबोधनं पाणिनेरयुक्तम्, अतः महाभाष्ये अन्योन्याश्रयमाशङ्क्य- '**हलन्त्यम् इत्सज्ञं भवति, लकारश्चेद्भवतीति वक्तव्यमि**'**त्युक्त्वा- एकशेषनिर्देशाद्वा सिद्धम्, हल् च हल् च हल्- हलन्त्यमित्' इत्युक्तम्। तस्यायं भावः- "कृतैकशेषेण हल्पदेन सम्बन्धसामान्यषष्ठ्या समासोऽन्त्यशब्दस्य च द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्येवोभयत्रान्वयः, एवञ्च हल्सूत्रान्त्यं हल्रूपान्त्यञ्चेति बोधः, अन्त्ये 'राहोः शिरः' इतिवत्षष्ठी"ति। अत्रोच्चारयितुरेकशेषनिर्देशो बोद्धुस्त्वावृत्या बोधः।**[१७] अर्थात् महाभाष्ये महाभाष्यकारो भगवान् पतञ्जलिः "**हलन्त्यम्**" इति सूत्रोपरि अन्योन्याश्रयम् आशङ्क्य अन्त्यस्य हल इत्संज्ञा भवति तथा च लकारस्य इत्संज्ञा भवतीति

---

[१२] माहेश्वरसूत्रेषु प्रथमं सूत्रम्

[१३] पाणिनीय-अष्टाध्यायी-सूत्रपाठः- १/३/३

[१४] पाणिनीय-अष्टाध्यायी-सूत्रपाठः- १/१/७१

[१५] ज्ञप्तिः= ज्ञानम्।

[१६] पाणिनीय-अष्टाध्यायी-सूत्रपाठः- १/३/४

[१७] आचार्य-विश्वनाथमिश्रस्य सुबोधिनीहिन्दीव्याख्योपेते लघुशब्देन्दुशेखरे पृ. सं.- ३१, ३२

उक्तवान्। एवं कथं सम्भवति इति प्रश्ने महाभाष्यकारेण उच्यते- एकशेषनिर्देशेन एवं सम्भवति अर्थात् **"हलन्त्यम्"** सूत्रे हलि पदे पाणिनिना एकशेषः कृतोऽस्ति। हल् च हल् च हल् एवम्प्रकारकेण एकशेषनिर्देशेन एकस्मिन् हल्पदे हल्द्वयं वर्तते। अत्र एकेन हला **'हल्'** प्रत्याहारस्य तथा द्वितीयेन हला चतुर्दशं माहेश्वरसूत्रं **"हल्"** इति गृह्यते। एकशेषानन्तरं हलि पदे सम्बन्धसामान्ये भेदबोधिकां षष्ठीं विभक्तिं विधाय **"षष्ठी"**[१८] इति सूत्रेण षष्ठ्यन्तस्य **हल् ङस्** इति समर्थसुबन्तस्य **अन्त्य सुँ** इति समर्थसुबन्तेन सह षष्ठीसमासानन्तरं **द्वन्द्वादौ द्वन्द्वमध्ये द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते** इत्यनुसारं द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य अन्त्यशब्दस्य प्रत्येकं हला सह अन्वयो भवति। न च **'हल्'** पदेन प्रत्याहारे स्वीकृते हल् एव अन्त्यं वर्तते अन्त्यमेव हल् वर्तते, तस्माद् हलन्त्ययोः पदयोर्मध्ये अभेदान्वयाद् भेदख्यापिका षष्ठी विभक्तिः षष्ठीतत्पुरुषसमासश्च कथं भवितुं शक्नोतीति वाच्यम्, अन्त्येन **'हल्'** प्रत्याहारबोधकेन हला सह अन्त्यशब्दस्य '**राहोः शिरः**' इतिवत् अन्वयात्। अर्थात् हलि स्वनिरूपितावयवत्वस्य आरोपः क्रियते, येन हल्पदवाच्ये अवयविता अन्त्यपदवाच्ये अवयवता च उत्पन्ना भवति। उच्चारयिता तु एकशेषेण निर्देशं कर्तुं शक्नोति, परं बोद्धुस्तु आवृत्या बोधो भवति, तस्माद् उभयविधस्य हल्पदस्य अन्त्यशब्देन सह समासानन्तरं **"हलन्त्यम्"**, **"हलन्त्यम्"** इति आवृत्या बोद्धुर्बोधो भवति। तत्र प्रथमेन **"हलन्त्यम्"** सूत्रेण **"हल्"** सूत्रस्थस्य लकारस्य इत्संज्ञा, **"आदिरन्त्येन सहेता"** इति सूत्रेण लकारेण सह '**हल्**' प्रत्याहारस्य सिद्धिस्तथा द्वितीयेन **"हलन्त्यम्"** सूत्रेण उपदेशावस्थायाम् अन्त्यस्य हलः इत्संज्ञा क्रियते, येन अन्योन्याश्रयदोषः परिह्रियते। एकशेषेण प्राप्ते '**हल्**' पदे **हस्य ल्** इति षष्ठीसमासः सामीप्यञ्च षष्ठ्यर्थरिति महावैयाकरणेन कैयटेन मन्यते, किन्तु तथा सति महाभाष्ये '**हल् इत्संज्ञं भवति, हलन्त्यञ्चेदि**'[१९]ति उल्लिखितं भवेत्।

अत्र श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितः- सामीप्यं षष्ठ्यर्थरिति स्वीकारे **ब्राह्मणस्य कम्बलरिति ब्राह्मणकम्बलरित्यादौ** ब्राह्मणसमीपवर्तिनः अन्यदीयकम्बलस्यापि प्रतीतिः प्राप्नोति, या लोकव्यवहारे न दृश्यते। एवमेव चित्रा गाव अस्येति चित्रगुरित्यत्र चित्रगवीणां समीपवर्तिनः वृक्षादेः प्रतीतिः प्राप्नोति, किन्तु एषा प्रतीतिरपि लोकव्यवहारे अनुपलभ्यते। न केवलं समासे अपितु ब्राह्मणस्य कम्बलरिति व्यस्तप्रयोगेऽपि ब्राह्मणसमीपवर्तिनः अन्यदीयकम्बलस्य प्रतीतिर्न भवति। नैव चित्रा गावोऽस्येति व्यस्तप्रयोगेऽपि चित्रगवीणां समीपवर्ती वृक्षादिः प्रतीयते, अतः सामीप्यं षष्ठ्यर्थरिति स्वीकर्तुमप्यशक्योऽस्ति। न च '**हल् च ल् चेति हल्**' इति समाहारद्वन्द्वः।

[१८] पाणिनीय-अष्टाध्यायी-सूत्रपाठः- २/२/८

[१९] आचार्य-विश्वनाथमिश्रस्य सुबोधिनीहिन्दीव्याख्योपेते लघुशब्देन्दुशेखरे पृ. सं.- ३२

द्वितीयलकारस्य "**संयोगान्तस्य लोपः**"[२०] इति सूत्रेण संयोगान्तलोपः, षष्ठीसमासः "**हलन्त्यम्**" सूत्रेण '**हल्**' सूत्रस्थस्य लकारस्य च इत्संज्ञायां सत्यां उपर्युक्तप्रकारेण अन्योन्याश्रयदोषपरिहारः स्यादिति वाच्यम्, "**यणः प्रतिषेधो वाच्यः**" इति वार्तिकेन यणः लोपस्य प्रतिषेधेन संयोगान्तलोपस्य दुर्लभत्वात्। "**यणः प्रतिषेधो वाच्यः**" इति वार्तिकस्य प्रत्याख्यानपक्षेऽपि "**झलो झलि**"[२१] इति सूत्राद् झल्ग्रहणमपकृष्य "**संयोगान्तस्य लोपः**" इत्यनेन संयोगान्तस्य झलः लोपविधानात्। किञ्च पदार्थबोधं विना वाक्यार्थबोधासम्भवेन **हल्** प्रत्याहारसिद्धेः प्राक् "**हलन्त्यम्**" सूत्रस्य वाक्यार्थाऽभावे प्रसक्ते तस्य उद्धाराय आवृत्तिरूपप्रयत्नोऽयं क्रियते। अस्यां परिस्थितौ **हल्** शब्दार्थाऽप्रसिद्धौ द्वन्द्व एव दुर्लभोऽस्ति, सहविवक्षाया अभावात्, तस्मात् अन्योन्याश्रयदोषपरिहाराय आवृत्तिरूपोपाय एव समीचीनोऽस्ति।

'**रँ**' प्रत्याहारविषये मतभेदो दृश्यते। प्राचीनवैयाकरणाः '**रँ**' प्रत्याहारं स्वीकृत्य तवल्कारः, ममल्कारः इत्यादीनां सिद्धिं जानन्ति किन्तु नव्यवैयाकरणाः तवल्कारः, ममल्कारः इत्यादीनां सिद्ध्यर्थम् "**उरँण् रपरः**"[२२] इति इति न्यासस्य स्थाने "**उरण् रलपरः**" इति न्यासं स्वीकुर्वन्ति।

"**आदिरन्त्येन सहेता**" सूत्रार्थविषये मतभेदो दृश्यते। प्रौढमनोरमायां यथा- आद्यन्ताभ्याम् अवयवाभ्याम् अवयवीसमुदाय आक्षिप्यते, तस्य च युगपल्लक्ष्ये प्रयोगाभावात् तदवयवेषु अवतरन्ती संज्ञा मध्यगेषु विश्राम्यति, न तु आद्यन्तयोः संज्ञास्वरूपान्तर्भावेन तयोः परार्थ्यनिर्णयात्। अर्थात् आद्यन्ताभ्याम् अवयवाभ्याम् अवयवीसमुदायत्वेन आक्षिप्ता ये मध्यगा वर्णाः सन्ति, त एव स्वीक्रियन्ते, न तु आद्यन्तौ। आद्यन्तयोर्ग्रहणम् "**स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा**"[२३] सूत्रादनुवृत्तेन स्वशब्देन भवति। स्व-शब्दः सर्वनामसंज्ञकः तस्मात् तेन आदेरेव ग्रहणं भवति, उत्सर्गतः सर्वनाम-शब्दस्य प्रधानपरामर्शित्वात्। अन्त्येन इत्यत्र अप्रधाने तृतीया विद्यते। किन्तु लघुशब्देन्दुशेखरानुसारमत्र आद्यन्ताभ्याम् अवयवत्वेन बोधकाभ्यां स्वघटितः=अचादिसहितः समुदाय आक्षिप्तः संज्ञी भवति। अस्यैव फलितार्थकथनरूपेण **स्वस्य च रूपस्य** इति स्वीक्रियते। तदनुसारं **स्वम्** इति अनुवृत्तिपरकं व्याखानं हेयमस्ति, अनुवृत्तौ फलाभावात्।

'**उपदेश**' पदार्थविषये मतभेदो दृश्यते। प्रौढमनोरमायाम् उपदेश-शब्दः भाव-घञन्तः, अर्थात् उपदेशनम् उपदेशः। किन्तु शेखरे उपदेश-शब्दः करण-घञन्तः, अर्थात् उपदिश्यते अनेनेति

[२०] पाणिनीय-अष्टाध्यायी-सूत्रपाठः:- ८/२/२३

[२१] पाणिनीय-अष्टाध्यायी-सूत्रपाठः:- ८/२/२६

[२२] पाणिनीय-अष्टाध्यायी-सूत्रपाठः:- १/१/५१

[२३] पाणिनीय-अष्टाध्यायी-सूत्रपाठः:- १/१/६८

उपदेशः। एतत्तु केवलं दिङ्मात्रं विद्यते। अग्रेऽपि अनेके मतभेदा दरीदृश्यन्ते।

एतदतिरिक्तं परमलघुमञ्जूषादिषु ग्रन्थेषु विभिन्नविषयाः समुपस्थापिताः सन्ति, यथा-शक्तिनिरूपणम्, लक्षणानिरूपणम्, व्यञ्जनानिरूपणम्, स्फोटनिरूपणम्, निपातार्थनिरूपणम्, धात्वर्थनिरूपणम्, लकारार्थनिरूपणप्रभृतादयः। अत्र श्रीमन्नागेशभट्टैर्मीमांसकादिमतखण्डनपुरःसरं स्वमतोपस्थापनं कृतं विद्यते एतेषु विषयेषु। तद्विषयानां तलस्पर्शिज्ञानं टीकाग्रन्थान् विना भवितुं न शक्नोति। अत्र उदाहरणरूपेण धात्वर्थविषयकं मतं प्रस्तूयते। यथा-

वैयाकरणानां धात्वर्थविषयकं मतम्

फलानुकूलो यत्नसहितो व्यापारो धात्वर्थः। किं नाम फलत्वमिति जिज्ञायाम्- फलत्वञ्च तद्धात्वर्थजन्यत्वे सति कर्तृप्रत्ययसमभिहारे तद्धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतावत्त्वम्। व्यापारत्वं भवति- तद्धात्वर्थफलजनकत्वे सति तद्धातुवाच्यत्वम्। अनुकूलत्वं नाम संसर्गः, यः फलव्यापारयोर्मध्ये तिष्ठति। फलनिष्ठजन्यता-निरूपित-जनकत्वम् अनुकूलत्वम्। **भावप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि**[२४] इति निरुक्तानुसारं व्यापारमुख्यविशेष्यकः शाब्दबोधः। तिङ्वाच्यसंख्यायाः कारके तथा च कालस्य व्यापारे विशेषणत्वेन अन्वयो भवति।

धात्वर्थविषयकं मीमांसकमतोपस्थापनं तत्खण्डनञ्च

यत्तु मीमांसका वदन्ति फलं धात्वर्थो व्यापारश्च प्रत्ययार्थः। तन्नोचितम्, कारणं लकाराः सकर्मकेभ्यो धातुभ्यः कर्तरि, कर्मणि अकर्मकेभ्यश्च धातुभ्यः कर्तरि भावे च भवन्ति इत्यर्थकेन **"लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः"**[२५] सूत्रेण सह विरोधो भवति, अनेन व्यापारस्य प्रत्ययार्थत्वाभात्। सहैव पचति, पक्ष्यति, पक्ववान् इत्यादिषु स्थलेषु फूत्कारादिक्रियाप्रतीतये तत्र अनेकप्रत्ययानां शक्तिकल्पनाऽपेक्षया एकस्यैव धातोः शक्तिकल्पनाया उचितत्वात्। किञ्च फूत्कारादेः प्रत्ययार्थत्वे गच्छति इत्यादौ फूत्कारादिप्रतीतिवारणाय तद्बोधे पच्-धातोः समभिहारस्यापि कारणत्वकल्पनेऽतिगौरवं भवति।

किञ्च व्यापारस्य प्रत्ययार्थत्वे सकर्मकाऽकर्मकव्यवहारोच्छेदापत्तिर्विद्यते, तद्धात्वर्थफल-व्यधिकरणव्यापारवाचकत्वस्य सकर्मकत्वात् तद्धात्वर्थफलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वस्य अकर्मकत्वाच्च। न च प्रत्ययार्थव्यापारव्यधिकरणफलवाचकत्वं सकर्मकत्वं प्रत्ययार्थव्यापार-

[२४] निरुक्ते- १/१

[२५] पाणिनि-अष्टाध्यायी-सूत्रपाठः- ३/४/६९

समानाधिकरणफलवाचकत्वं अकर्मकत्वम्। एवम्प्रकारेण प्रत्ययार्थव्यापाराश्रयत्वे कर्तृत्वे सति **घटं भावयति** इत्यादौ णिजर्थव्यापारव्यधिकरणफलाश्रयत्वेन घटादेः कर्मत्वमिति वाच्यम्, अभिधानाऽनभिधानव्यवस्थोच्छेदापत्तेः। अर्थात् उक्ते कर्त्रादौ कारके प्रथमा विभक्तिर्भवति अनुक्ते च तृतीयादिविभक्तिरिति व्यवस्थायारुच्छेदापत्तिः स्यात्। न च प्रत्ययानां कर्त्राद्यर्थं प्राप्तुम् आश्रयाक्षेपद्वारा व्यापारेण तदाश्रयस्य कर्तुरभिधानं कर्माख्यातस्थले च प्रधानेन फलेन तदाश्रयस्य कर्मणोऽभिधानं स्यादिति वाच्यम्, जातिशक्तिवादीनां मीमांसकानां मतौ जात्याक्षिप्तव्यक्तेरिव आश्रयप्राधान्यापत्तौ '**क्रियाप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि**' इति यास्कवचनेन विरोधापत्तेः सत्त्वात्। किञ्च फलस्य धातुना तदाश्रयस्य च आक्षेपेण लाभसम्भवेन "**लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः**" सूत्रस्य वैयर्थ्यापत्तेः।

लकारार्थविषयका नैयायिकानां सिद्धान्ताः

यत्तु तार्किका वदन्ति फलव्यापारौ धात्वर्थः लकाराणां कृतौ शक्तिः, लाघवात् न तु कर्तरि। कृतिमतः कर्तृत्वेन तत्र शक्तौ स्वीकृतायां गौरवात्[२६] प्रथमान्तपदेनैव तल्लाभाच्च। आख्यातार्थे धात्वर्थो विशेषणम्, प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः सहार्थत्वे प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यात्। प्रथमान्तार्थे आख्यातार्थो विशेषणम्। फलव्यापारयोर्मध्ये तथा च व्यापारकृतिमध्ये अनुकूलत्वं संसर्गः। तिङर्थप्रथमान्तार्थयोर्मध्ये आश्रयतासम्बन्धः। एवं सति 'चैत्रः पचति' इत्यादौ 'विक्लित्यनुकूल-व्यापारानुकूलकृतिमान् चैत्रः' इति बोधः। 'रथो गच्छति' इत्यादौ रथस्य अचेतनत्वेन यत्नशून्यत्वात् व्यापारे आश्रयत्वे वा आख्यातस्य लक्षणेत्याहुः। स्थितस्य रथस्य कृते 'रथो गच्छति' इति प्रयोगो न स्यात् तदर्थम् आख्यातस्य लक्षणा आश्रयत्वे क्रियते। तथा सति स्थिते रथे गमनानुकूलव्यापारस्य आश्रयत्वाभावेन स्थितस्य रथस्य कृते 'रथो गच्छति' इति प्रयोगो न भवति। तन्नोचितम्।

नैयायिकैः स्वीकृतस्य लकाराणाम् अर्थः कृतिरिति प्रथमसिद्धान्तस्य खण्डनम्

युष्मदस्मदोः कर्तृकर्मणोः कृत्यर्थकेन लकारेण सह सामानाधिकरण्याभावात्=समानार्थक-त्वाभावात् पुरुषादिव्यवस्था अव्यवस्थिता भवति। पचन्तं चैत्रं पश्य, पचते चैत्राय देहि इत्यादौ शतृशानचादीनामपि तिबादिवत् लादेशाविशेषेण अर्थात् यथा लादेशाः तिबादयः कर्तृवाचकाः सन्ति

---

[२६] लकाराणाम् अर्थः कर्त्तेति स्वीकारे गौरवमस्ति। कारणं लकाराणाम् अर्थः कर्त्ता, अस्य तात्पर्यं भवति लकाराणाम् अर्थः कृतिमान्। कृतिमति अनन्तानां कृतीनां समावेशत्वात् ताः सर्वाः कृतयो वाच्या भवन्ति। अतः कर्तरि वाच्ये गौरवमस्ति। यद्यपि लकाराणाम् अर्थः कृतीति स्वीकारेऽपि अनन्ताः कृतय वाच्या भवन्ति, तथापि अनन्तकृतिषु कृतित्वमेकम्। तस्य कृतित्वस्य वाच्यत्वेन स्वीकारे लाघवम्।

तथैव शतृशानचादीनामपि लादेशत्वात् शतृशानचादयोऽपि कर्तुरेव बोधका भवन्तीत्यापत्तिः। न च इष्टापत्तिः, आश्रयाश्रयिभावेन अर्थात् आश्रयिकृतेरन्वयाश्रये सत्त्वेन आश्रयिकृतिद्वारा तदाश्रयस्य ग्रहणेन प्रकृतस्थले कर्मणः सम्प्रदानस्य च ग्रहणादिति वाच्यम्, नामार्थयोरभेदान्वयो व्युत्पन्नः=निश्चित इति व्युत्पत्तेर्भङ्गापत्तिः, आश्रयाश्रयिभावस्वीकारात्।

न च "**फलमुखगौरवं न दोषाय**" इति न्यायेन शतृशानचादीनां कर्तरि शक्तिः तिबादीनां कृतौ एवेति चेन्न, स्थान्येव वाचको भवति, लाघवात् न तु आदेशाः। आदेशानां बहुत्वे तत्र शक्तिस्वीकारे गौरवमस्तीति भवतां नैयायिकानामेव मतं विद्यते, यस्य चर्चा शक्तिनिरूपणे कृता विद्यते। एवञ्च तिबादीनां शतृशानचादीनाञ्च स्थानिस्मारकतया शतृशानचादयो लिपिवत् सन्ति, बोधकस्तु लकार एव। स च लकारः शत्राद्यन्ते सति कर्तरि अर्थे शक्तः तिबाद्यन्ते सति कृतावर्थे शक्त इति स्वीकारे सति अनेकार्थत्वरूपा अन्यायापत्तिर्विद्यते। उक्तञ्चापि- **अन्यायश्चानेकार्थत्वम्**। न च "**लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः**" इति सूत्रे कर्तृकर्मपदे भावप्रधाने विद्येते। एवम्प्रकारेण कर्तुर्भावः कर्तृत्वम्=कृतिः, कर्मणो भावः कर्मत्वम्=फलं भवति। तत्र कृतिफलयोः शक्तिस्वीकारे सूत्रस्य स्वरसः=सङ्गतिर्विद्यते। तथा च 'पच्यते ओदनो देवदत्तेन' इत्यादौ 'देवदत्तनिष्ठकृतिजन्यव्यापारजन्यविक्लित्तिमान् ओदनः' इति बोधः। "**कर्तरि कृत्**"[२७] इति सूत्रे तु **कर्तरि** पदस्य धर्मिप्रधानत्वात् कृत्याश्रये कर्तरि शत्रादयः कृत्प्रत्ययाः भवन्ति, अतः तत्र कर्तरि शत्रादीनां कृत्प्रत्ययानां शक्तिर्विद्यत इति वाच्यम्, "**कर्तरि कृत्**" इति सूत्रे यत् कर्तृग्रहणं विद्यते तदेव "**लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः**" इति सूत्रे अनुवृत्यते। तस्मात् कर्तृकर्मणोः पदयोर्भावप्रधानत्वे सूत्रस्य स्वरसाभावात्=सङ्गत्याभावात्= स्वाभाविकतायाः समाप्तिसत्त्वात्। शत्रादीनां "**स्थान्यर्थाभिधानसमर्थस्यैव आदेशत्वम्**" इति न्यायेन स्थान्यर्थस्यैव बोधकत्वेन अर्थदृष्ट्या निराकाङ्क्षत्वात् "**आकाङ्क्षितविधानं ज्यायः**" (साकाङ्क्षस्य=अनिर्णीतशब्दस्यैव अर्थविधानम् उचितं भवति) इति न्यायेन "**कर्तरि कृत्**" इति सूत्रद्वारा शतृशानचादिप्रत्ययानाम् अर्थनिर्णयो भवितुं न शक्नोति। अन्यथा 'देवदत्तेन शय्यमाने आस्यमाने च यज्ञदत्तो गतः' इत्यादौ भावे शानजापत्तेः सत्त्वाच्च्।

ननु नामार्थयोरभेदान्वयानुरोधेन शतृशानचादीनां कर्तरि शक्तिरिति चेन्न, 'पचतिरूपं देवदत्तः, पचतिकल्पं देवदत्तः' इत्याद्यनुरोधेन तिङ्क्ष्वपि कर्तुरेव वाच्यत्वस्य औचित्यम्। किञ्च कृतिवाच्यत्वे सति 'रथो गच्छति' इत्यादौ व्यापारे आश्रयत्वे वा लक्षणास्वीकारे गौरवापत्तिर्विद्यते। तथा सति

[२७] पाणिनि-अष्टाध्यायी-सूत्रपाठः- ३/४/६७

अभिहितत्वानभिहितत्वव्यवस्थयोरुच्छेदापत्तिर्विद्यते। न च "**अनभिहिते**"[२८] इति सूत्रे 'अनभिहितसङ्ख्याके कारके' इति अर्थवर्णनमिति वाच्यम्, कृत्तद्धितसमासैः सङ्ख्याभिधानस्य अप्रसिद्धत्वात्। किञ्च यत्नोऽपि= व्यापारसामान्यरूपार्थोऽपि धातुत एव प्राप्यते। 'स्थालीस्थे यत्ने पचिना कथ्यमाने' (स्थालीस्थो यत्नः पच्-धातुना कथ्यते) तस्मात् कारणात् 'स्थाली पचति' इति प्रयोगो भवति इति "**कारके**"[२९] इति अधिकारसूत्रस्थात् भाष्यप्रयोगात्। "**अनन्यलभ्यस्यैव शब्दार्थत्वात्**" इत्यनुरोधेन कृतेर्लाभो धातुना शक्यत्वेन कृतौ लकारस्य आख्यातस्य वा शक्तिस्वीकरणम् असम्भवमेव।

नैयायिकैः स्वीकृतस्य आख्यातार्थे धात्वर्थविशेषणमिति द्वितीयसिद्धान्तस्य खण्डनम्- नैयायिकैराख्यातार्थे धात्वर्थो विशेषणमिति स्वीक्रियते। तथाहि 'प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः सहार्थत्वे प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम्' इति उत्सर्गः=सामान्यनियमः। अस्योदाहरणं यथा- पाचकः, औपगवः। अत्र 'पाचकः' इत्यस्य 'पाकक्रियाश्रयः' इत्यर्थे तथा 'औपगवः' इत्यस्य 'उपगुसम्बन्ध्यभिन्नापत्यम्' इत्यर्थे प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यात्। द्योत्यस्थले च प्रत्ययार्थस्य अप्राधान्यमेव। यथा 'अजा' इत्यत्र स्त्रीत्वविशिष्टपशुविशेषस्य बोधात्। तस्य उत्सर्गनियमस्य 'भावप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि' इति यास्कवचनम् अपवादो विद्यते। तेन आख्याते=तिङन्तस्थले शाब्दबोधे क्रियाया एव प्राधान्यं बोध्यं न तु प्रत्ययार्थस्य।

यत्तु आख्यातपदेन तिङ्ग्रहणात् तथा 'भावप्रधानम्' इत्यत्र बहुव्रीहिसमासस्य स्थाने षष्ठी-तत्पुरुष-समासाश्रयणात् प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यं फलतीति। तन्नोचितम्- '**आख्यातम् आख्यातेन क्रियासातत्ये**' इति मयूरव्यंसकादिगणे पठिते गणसूत्रे आख्यातपदेन तिङन्तस्यैव ग्रहणात्। '**प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः सहार्थत्वे प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम्**' इति उत्सर्गेणैव निर्वाहे सति यास्ककृतस्य '**भावप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि**' इति अपवादवचनस्य वैयर्थ्यापत्तेश्च। अतः 'भावप्रधानम्' इत्यत्र बहुव्रीहिसमासः तथा च आख्यातपदेन तिङन्तस्यैव ग्रहणं कर्तव्यम्।

नैयायिकैः स्वीकृतस्य प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यकशाब्दबोध इति तृतीयसिद्धान्तस्य खण्डनम्- तार्किकमते प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यकः शाब्दबोधो भवति। तस्य खण्डनं एवम्प्रकारेण ज्ञेयं यत् शाब्दिकानां मते व्यापारमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधस्य सत्त्वात् 'पश्य मृगो धावति' इत्यस्य शाब्दबोधप्रक्रिया- 'मृगकर्तृकं धावनम्' इति दृशिक्रियायाः कर्म। तत्र प्राधान्यं दृशिक्रियाया एव तथा च सम्पूर्णवाक्यस्य शाब्दबोधो भवति- मृगकर्तृकं धावनकर्मकं प्रेरणाविषयीभूतं त्वत्कर्तृकं दर्शनम्।

---

[२८] पाणिनि-अष्टाध्यायी-सूत्रपाठः- २/३/१

[२९] पाणिनि-अष्टाध्यायी-सूत्रपाठः- १/४/२३

तत्र 'मृगो धावति' इत्यत्र विशेष्यभूतस्य धावनरूपार्थवाचकस्य 'धावति' इति शब्दस्य तिङन्तत्वेन प्रातिपदिकत्वाभावात् तत्र द्वितीया विभक्तिर्न भवति। तस्य धावतिपदवाच्यस्य धावनस्य कर्मत्वं संसर्गमर्यादया अर्थात् आकाङ्क्षया उपस्थितस्य पश्यति-पदस्य माध्यमेन भवति। एवमेव 'पचति भवति' इत्यत्र 'पचिक्रियाकर्तृका सत्ता' इति बोधः। 'पच्यादयः क्रिया भवतिक्रियायाः कर्त्र्यो भवन्ति' इति "**भूवादयो धातवः**"[३०] सूत्रस्थभाष्याद् ज्ञेयम्। उक्तञ्च हरिणा-

सुबन्तं हि यथानेक-तिङन्तस्य विशेषणम्।
तथा तिङन्तमप्याहुस्तिङन्तस्य विशेषणम्॥

अर्थात् सुबन्ततिङन्तस्थले व्यापारमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधस्य सत्त्वात् यथा सुबन्तं तिङन्तस्य विशेषणं भवति तथैव केवलं तिङन्तस्थलेऽपि तिङन्तस्य तिङन्तं विशेषणं भवति। तार्किकमतानुसारं 'पश्य मृगो धावति' इत्यस्य शाब्दबोधो भवति- अन्यदेशसंयोगानुकूलधावनानुकूलकृतिमन्मृगकर्मकं प्रेरणाविषयीभूतं यद् दर्शनं तदनुकूलकृतिमांस्त्वम्। तत्र विशेष्यभूतार्थवाचकस्य मृगशब्दस्य प्रातिपदिकत्वाद् दृशिक्रियायाः कर्मत्वाच्च द्वितीयाविभक्तेरापत्तिर्विद्यते। अतस्तत्र धावन्तं मृगं पश्य इतिवत् पश्य मृगं धावति इत्यस्य आपत्तिर्विद्यते। प्रथमाभिन्नसमानाधिकरणे शतृशानचोर्नित्यमेव सत्त्वात् 'पश्य मृगो धावति' इति प्रयोगस्य सर्वथा विलयापत्तिर्विद्यते, तस्य स्थाने 'धावन्तं मृगं पश्य' इत्यस्य सत्त्वात्।

न च विशिष्टार्थवाचकस्य 'धावति मृगः' इति वाक्यस्य कर्मत्वे 'मृगः' इति प्रातिपदिकस्य कर्मत्वाभावात् तत्र द्वितीया न स्यादिति वाच्यम्, "**अनभिहिते**" इति अधिकारसूत्रस्य प्रकरणे '**अभिधानञ्च प्रायेण तिङ्कृत्तद्धितसमासैः**' इति परिगणनप्रत्याख्यानपरकभाष्यरीत्या द्वितीयापत्तेर्सत्त्वात्। तत्र भाष्ये 'कटं भीष्मं कुरु' इत्यत्र अनुक्ते कर्मणि कटे "**कर्मणि द्वितीया**"[३१] इति सूत्रेण द्वितीयाविभक्तौ सत्यां कटगतकर्मत्वस्य उक्तत्वात् "**अनभिहिते**" इति सूत्रानुरोधेन भीष्मम् इत्यत्र द्वितीया न स्यादिति आशङ्क्य उत्तरयति यत् अभिधानं तिङ्कृत्तद्धितसमासैर्भवति। एषु तिङ्कृत्तद्धितसमासेषु कोऽपि कटमित्यत्र नास्ति। अत्र द्वितीया विभक्तिर्विद्यते। तस्याः परिगणनं नास्ति, तस्मात् द्वितीयया कर्मत्वस्य अनभिधानात् भीष्मम् इत्यत्रापि द्वितीया स्यात् तदर्थं तैरुच्यते तेषां परिगणनं कर्तव्यम् इति उक्त्वा तस्य खण्डनं भाष्यकारेण क्रियते यत् सर्वकारकाणां साक्षात् स्वाश्रयद्वारा वा क्रियायाम् अन्वयो भवति, तस्मात् कारणात् 'कटं करोति भीष्मम्' इत्यत्र विशेषणविशेष्ययोर्भीष्मकटयोः क्रियायाम् अन्वयसत्त्वाद् उभयत्र कर्मत्वं विद्यते। अत एव उभयत्र

[३०] पाणिनि-अष्टाध्यायी-सूत्रपाठः- १/३/१

[३१] पाणिनि-अष्टाध्यायी-सूत्रपाठः- २/३/२

द्वितीया विभक्तिः कर्तव्या। भाष्ये यथा- कटोऽपि कर्म भीष्मादयोऽपि कर्म। अन्यथा 'कटम्' इत्यत्र द्वितीया-विभक्तिद्वारा कटस्य कर्मत्वम् उक्तेऽपि भीष्मादिगुणविशिष्टं कर्मत्वन्तु अनुक्तमेव भवति। एवम्प्रकारेण परिगणनस्य प्रत्याख्यानं क्रियते। अधिकरणकारकस्य साक्षात् क्रियायाम् अनन्वयात् परम्परया अर्थात् कर्तृकर्मनिष्ठक्रियया अन्वयात् स्वाश्रयद्वारा अर्थात् कर्तृकर्मरूपाश्रयद्वारेति उक्तम्। उभयत्र द्वितीयाविभक्त्यनन्तरं परस्परम् अन्वयो विशेष्यविशेषणभावेन भवति। अयमेव अन्वयः पार्ष्णिकोऽन्वयः कथ्यते। एवमेव अरुणाधिप्रकरणे[३२] 'अरुणया, पिङ्गाक्ष्या, एकहायन्या सोमं क्रीणाति' इत्यत्र क्रयणक्रियायां प्रत्येकम् अर्थात् अरुणया, पिङ्गाक्ष्या, एकहायन्या इति त्रयाणामपि अन्वयादिदं ज्ञातं भवति यत् क्रियायां प्रत्येकं अन्वयो भवति। अत्र गुणद्वारा क्रयणक्रियाया असम्भवात् तदाश्रयस्य द्रव्यस्य ग्रहणं भवति। प्रकरणाऽपेक्षया 'गवा ते सोमं क्रीणाति' इति मन्त्रवाक्यस्य अधिकबलवत्त्वात् समानाधिकरणतया त्रयाणामपि शब्दानां वाच्यार्थभूते गो-द्रव्य अन्वयो भवति। अत्र 'धावति' इत्यस्य 'मृग' इत्यस्य चोभयोः कर्मत्वेन 'धावति' इत्यस्य प्रातिपदिकत्वाभावात् 'धावति' पदस्य नैयायिकमतानुसारं मृगपदविशेषणत्वात् दर्शनक्रियां प्रति निराकाङ्क्षत्वाच्च तत्र द्वितीयाविभक्त्युत्पत्त्यभावेऽपि मृग-शब्दाद् द्वितीया दुर्वारा विद्यते। व्यापारमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधात् शाब्दिकमते धावनक्रियां प्रति विशेषणत्वेन इतरार्थे अर्थात् दर्शनक्रियां प्रति निराकाङ्क्षत्वेन मृग-शब्दे न द्वितीया। तार्किकमते तु विशेष्यार्थवाचकत्वाद् मृग-शब्दाद् 'राज्ञः पुरुषम् आनय' इतिवत् द्वितीया दुर्वारा विद्यते।

दार्शनिकपक्षमाश्रित्य **वाक्यपदीयम्** विद्यते। अत्र त्रीणि काण्डानि सन्ति। ब्रह्मकाण्डम्, वाक्यकाण्डं पदकाण्डञ्च। यत्र वैयाकरणानां दार्शनिकपक्षस्य विस्तृत-चर्चा प्रस्तुता विद्यते।

निष्कर्षः

अष्टाध्यायीगतसमस्तसूत्राणां, तज्जन्यसमस्तसिद्धान्तानां समस्तवार्तिकानाञ्च सम्यग् ज्ञानाय व्याकरणस्य टीकाभूताः सर्वेऽपि संस्कृतग्रन्था आचार्य-विश्वनाथमिश्रमहोदयादीनां हिन्दीभाषायां लिखिता टीकाग्रन्थाश्च तत्त्वज्ञानाय स्वकीयं सहभागं कुर्वन्ति। एवम्प्रकारेण शोधपत्रेऽस्मिन् व्याकरणशास्त्रावलोके शास्त्रतत्त्वावबोधनाय टीकाग्रन्थानां कथम् अवदानं विद्यते इति सर्वं सोदाहरणं यथामति मया प्रस्तुतम्।

* * *

[३२] मीमांसा सं- ३/१/६/१२